LEARN GEETA
तस्मात् योगी भवार्जुन

॥ श्रीहरिः ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् |
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ||

॥ गीता पढ़ें, पढ़ायें, जीवन में लायें ॥

|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 17: श्रद्धात्रयविभागयोग

2/2 (श्लोक 14-28), रविवार, 30 जुलाई 2023

विवेचक: गीता विदूषी सौ वंदना जी वर्णेकर

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/SjqpiLx3Ybk

जीवन का उन्नयन करने का भगवान द्वारा निर्दिष्ट सरल मार्ग

नारायण नाम सङ्कीर्तन, भजन, मधुराष्टकम्, हनुमान चालीसा, दीप प्रज्ज्वलन, सरस्वती वन्दना और गुरु वन्दना के पश्चात विवेचन प्रारम्भ हुआ। प्रत्यक्ष समराङ्गण में हतोत्साहित, किङ्कर्तव्यविमूढ़ अर्जुन को हताशा और अवसाद से बाहर निकालने तथा प्रेरणा और आत्मविश्वास देने के उद्देश्य से, भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से प्रवाहित सुन्दर, शाश्वत ज्ञान की धारा का नाम श्रीमद्भगवद्गीता है। **पाँच हजार साल बाद भी यह उतनी ही प्रासंगिक है।**

स्वामी गोविन्ददेव गिरि जी महाराज के निर्देशन में यह गीता महायज्ञ हो रहा है। जो भी इसमें शामिल हैं, इसके अनुयायी हो गये। एक एक स्तर पार करते हुए, छः सात लाख साधकों ने अपना अनुबन्ध निर्माण किया है।
इस अध्याय में भगवान ने श्रद्धा का वर्णन करते हुए अर्जुन को जीवन जीने की कसौटियाँ बताईं और कहा कि आहार, यज्ञ, तप और दान भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक- ऐसे तीन प्रकार के होते हैं। अपने जीवन को साधने की एक सुन्दर कला हमारे अन्दर विकसित करने के लिए भगवान हमें पाथेय प्रदान करते हैं।

"**Day by day, I should become better and better.**"

दिन प्रतिदिन अपने जीवन का उन्नयन हो, जिन-जिन स्तरों पर हम जीवन जीते हैं, उन स्तरों को शुद्ध करने की कला भगवद्गीता हमें सिखाती है। यह परिपूर्ण योगशास्त्र है। भगवान समाधि का विज्ञान बताते हुए भी बड़ी विलक्षण और व्यावहारिक रीति से मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए शरीर के पोषण के लिए आवश्यक आहार का भी प्रतिपादन करते हैं। आहार के भी भगवान तीन प्रकार बताते हैं। सृष्टि के कल्याण के लिए सामूहिक प्रयास (team work) से किया जाने वाला प्रत्येक कार्य यज्ञ के अन्तर्गत समाहित किया जाता है। इसमें समर्पण की संकल्पना है।

हम चार स्तरों पर जीवन जीते हैं-

1- व्यष्टि - व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन,
2- समष्टि - सामाजिक जीवन
3- सृष्टि - भगवान का बनाया हुआ संसार
4- परमेष्टि- आत्मोत्कर्ष परमात्मा प्राप्ति

जल का, वायु का और अन्न के बीज का भी हम निर्माण नहीं कर सकते। हमारे शरीर, मन और बुद्धि का विकास करने वाली सभी वस्तुएं भगवान के द्वारा निर्मित हैं। जिस समाज में हम पलते-बढ़ते हैं, उस समाज के प्रति हमारा कुछ उत्तरदायित्व है। मनुष्य पर चार प्रकार के ऋण होते हैं-
1- देव ऋण- देवताओं का ऋण,
2- पितृ ऋण - पितरों का ऋण,
3- ऋषि ऋण- ऋषियों का ऋण
4- समाज ऋण- समाज का ऋण।

इन ऋणों से मुक्त होने का प्रयासमात्र करने से भी ऋण-मुक्ति का द्वार खुल जाता है। जिस प्रकार यज्ञ में एक वेदी होती है, उसमें अग्नि प्रज्ज्वलित करके देवताओं और पितरों के निमित्त स्वाहा-स्वधा के नाम से आहुति डाली जाती हैं। यज्ञ की ज्वालाएँ ऊपर की ओर उठती है। अग्निनारायण को यह वरदान है कि वे सम्बन्धित देवताओं तक उनके निमित्त डाली गई आहुतियों को पहुँचाते हैं। यह हमारी वैदिक संस्कृति है।

"**मैंने इस सृष्टि से कुछ प्राप्त किया है और मैं इसमें समर्पण की भावना से कुछ लौटाना चाहता हूँ"**

"देना मेरा कर्तव्य है"- इस भावना से फल की अपेक्षा न करते हुए किए जाने वाले यज्ञ को भगवान ने सात्त्विक यज्ञ कहा है। देखने में सात्विक यज्ञ के समान लगता हो, परंतु जिसमें प्रतिफल की अपेक्षा हो, वह राजसी यज्ञ कहलाता है। जिसमें विधि, मंत्र, श्रद्धा, दान, दक्षिणा का अभाव हो तथा जिसमें किसी के कल्याण की भावना भी न हो, वह यज्ञ तामसिक कहा गया है।

भगवान गीता में व्यक्तित्व विकास की विधि बतलाते हैं। यह Self screening का अध्याय है। हम अपने जीवन का उन्नयन कर सकते हैं।

एक लोहे के टुकड़े पर संस्कार किया जाए तो वह कील, पेंच या स्प्रिंग बन जाता है। फिर वह बड़े-बड़े यन्त्रों और यानों के लिए उपयोगी हो जाता है और उसका मूल्य बढ़ जाता है। उसी प्रकार मनुष्य स्वयं को संस्कार की प्रक्रिया में ढाल दे और स्वयं का जीवन उन्नयन की ओर ले जाए, तो उसका भी मूल्य बढ़ता है। इसीलिए भगवान आगे तप का महत्व बताते हैं। सभी महानुभाव अपने जीवन में तप करते हैं। भगवान श्री राम, भगवान श्री कृष्ण, शिवाजी महाराज, आदि सभी ने तप किया। सोने को जितना तपाया जाता है, उतनी ही उसकी अशुद्धि दूर होती है। वह अधिक मूल्यवान बनता है। भगवान ने तीन प्रकार के तप बताए- शारीरिक, वाचिक और मानसिक तथा इन तीनों के भी तीन-तीन प्रकार हुए- सात्त्विक, राजसी और तामसिक।

17.14

देवद्विजगुरुप्राज्ञ, पूजनं(म्) शौचमार्जवम्|
ब्रह्मचर्यमहिंसा च, शारीरं(न्) तप उच्यते||17.14||

देवता, ब्राह्मण, गुरुजन और जीवन्मुक्त महापुरुष का यथायोग्य पूजन करना, शुद्धि रखना, सरलता, ब्रह्मचर्य का पालन करना और हिंसा न करना - (यह) शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

विवेचन- देवताओं का, ब्राह्मणों का (**ब्राह्मण कोई जाति नहीं। 'ब्रह्मेण आचरति यः सः ब्राह्मणः' -जो ब्रह्म की तथा आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अग्रसर हों, वे ब्राह्मण हैं**), गुरुजन का, बुद्धिमानों का, ज्ञान पिपासुओं का, श्रेष्ठ लोगों का (इनमें माता-पिता भी समाहित हैं) पूजन करना; यह जीवन को पवित्रता की ओर ले जाता है। हमारे प्रधानमंत्री जी का वीडियो वायरल हुआ था -

माता का पूजन करते हुए पद प्रक्षालन का वीडियो।

स्वच्छता, शुद्धता और पवित्रता तीन स्तर हैं।

घर में आने वाले पानी को हम फिल्टर लगाकर स्वच्छ तो कर लेते हैं, परंतु पवित्र नहीं। पवित्र तो गंगाजल ही होता है, जिसके स्मरण, स्पर्श और आचमन मात्र से तन-मन पवित्र हो जाता है। पवित्रता हेतु प्रतिदिन कार्य करना शारीरिक तप है।

शौचता की विशेषता - जितनी स्वच्छता जीवन में आएगी, उतना ज्यादा सावधानी से जीवन जीना पड़ेगा। जीवन जितना शुद्धता की ओर जाएगा, उतनी ही उसमें सावधानी आती जाएगी। जिस प्रकार हम कोई नयी कार लाते हैं तो उस पर खरोंच न लगे, इसका ध्यान रखते हैं। परंतु पुरानी कार पर बहुत सारी खरोंच हों, तो भी हम उस पर ध्यान नहीं देते। संत ज्ञानेश्वर महाराज जी कहते हैं-

"तैसा स्वरूपाचिया प्रसरा, लागीं प्राणेंद्रियशरीरां,
आटणी करणें जें वीरा, तेंचि तप ॥"

अर्थात् अपने स्वरूप तक, अपने आत्मज्ञान तक जाने के लिए शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मन को कष्टपूर्वक किसी अच्छे कार्य में लगाना तप है। तप से हमारी आंतरिक शक्ति, एकाग्रता तथा अनुकूलता-प्रतिकूलता, निंदा-स्तुति, यश-अपयश, सुख-दु:ख, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहन करने की शक्ति बढ़ती है।

आर्जवम्- सरलता, अर्जुन का व्यवहार सरल है। आर्जवम् से एकाग्रता बढ़ती है।चञ्चलता कम होती है।
ब्रह्मचर्य - ब्रह्म की प्राप्ति के लिए, आचरण रखना। ब्रह्मणि चरति इति ब्रह्मचर्यः
अहिंसा - मन वचन कर्म से किसी को दुःख न हो। अध्याय १६ भगवान ने अहिंसा के बारे में बताया है।

अहिंसा के विषय में ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं -

"आणि जगाचिया सुखोद्देशें, शरीरवाचामानसें,
राहाटणें तें अहिंसे, रूप जाण॥"

यदि अपने देश की रक्षा के लिए किसी सैनिक को कर्तव्य के रूप में शत्रु की हत्या करनी पड़ती है तो वह भी अहिंसा ही है।
महाभारत में प्रसंग आता है कि जब सरोवर से जल लाने के लिए एक-एक करके पाण्डव गए और यक्ष के प्रश्नों का उत्तर न दे पाने के कारण मृत हो गए। तब युधिष्ठिर जो स्वयं अनुशासित हैं, वहाँ जाते हैं और यक्ष के सौ विलक्षण प्रश्नों के उत्तर देते हैं। उनसे एक प्रश्न पूछा गया कि-
एक वाक्य में बताओ कि तप क्या है? तब युधिष्ठिर उत्तर देते हैं-

तप: स्वधर्मनीत मनसो दमनं दम:

अर्थात स्वधर्म (अपने कर्तव्यों) का पालन करने के लिए जो भी कष्ट उठाने पड़ते हैं, वे सभी तप के अंतर्गत आते हैं। हमें तप करने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। हम अपने घर में रहते हुए, जिन कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए कष्ट सहते हैं, वे तप में ही समाहित हैं। तप की संकल्पना को हमारे घर तक लाकर संत ज्ञानेश्वर कहते हैं-

स्वधर्मु जो बापा, तोचि नित्ययज्ञु जाण पां।
म्हणोनि वर्ततां तेथ पापा, संचारु नाहीं॥

अर्थात् अपने कर्तव्य का पालन करना हमारा नित्य यज्ञ है।
यक्ष एक और प्रश्न करते हैं कि संसार में महान कौन है? अर्थात् किसे महानता प्राप्त होगी? किसका जीवन श्रेष्ठ होगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए धर्मराज युधिष्ठिर जी कहते हैं-

"तपसा विन्दते महत्"

अर्थात् तप से ही जीवन में महानता प्राप्त होगी। और तप (परिश्रम) से ही मनुष्य महानता की ओर अग्रसर हो सकता है। यानि शॉर्टकट अपनाने से महानता प्राप्त नहीं होती।

17.15

अनुद्वेगकरं(म्) वाक्यं(म्), सत्यं(म्) प्रियहितं(ञ्) च यत्|
स्वाध्यायाभ्यसनं(ञ्) चैव, वाङ्मयं(न्) तप उच्यते||17.15||

जो किसी को भी उद्विग्न न करने वाला, सत्य और प्रिय तथा हितकारक भाषण है (वह) तथा स्वाध्याय और अभ्यास (नाम जप आदि) भी - यह वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

विवेचन: ऐसा वचन वाणी से निकालना जिससे किसी को उद्वेग न हो। किसी का निषेध भी सौम्यता से करना। प्रिय और हितकारी वाक्य कहना, मन के परिष्कार के लिए वेद-शास्त्रों का पठन, भगवद्गीता का पठन और स्मरण- यह सब वाणी का तप है। संत ज्ञानेश्वर जी महाराज कहते हैं:

"तैसें साच आणि मवाळ, मितले आणि
रसाळ, शब्द जैसे कल्लोळ, अमृताचे॥"

अर्थात् वाणी सत्य हो, सौम्य हो, थोड़ी हो लेकिन मृदुलता हो और उसे सुनकर ऐसा लगे, जैसे कानों में अमृत घोल दिया गया हो।

कबीर दास जी का दोहा है -

ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपु सीतल होय।।

अपनी वाणी ऐसी बने, उसके लिए भी तप करना आवश्यक है। जैसा कि कहा भी गया है कि:

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् , न ब्रूयात् सत्यमप्रियं ।
प्रियं च नानृतम् ब्रूयात् , एष धर्मः सनातनः ॥

सत्य बोलना चाहिये, प्रिय बोलना चाहिये, किन्तु अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिये। प्रिय हो किन्तु असत्य हो, वह भी नहीं बोलना चाहिये। यही सनातन धर्म है। यही वाणी का तप है।
एक कथा आती है कि एक अंधे साधु बाबा किसी वन में एक वृक्ष के नीचे तप के लिए बैठे थे। उस देश का राजा, प्रधान और उनके सेवक उस वन में मृगया (शिकार) करने के लिए आए। वे तीनों एक दूसरे से बिछड़ गए। सर्वप्रथम सेवक भटकता हुआ, साधु तक पहुँचता है और उनसे पूछता है- "ए साधु! तुमने किसी को यहाँ से किसी को जाते हुए देखा है?" साधु उसे मना कर देते हैं और वह बड़बड़ाता हुआ, पैर पटककर अपने रास्ते चला जाता है। थोड़ी देर पश्चात वहां प्रधान पहुँचते हैं और साधु महाराज से पूछते हैं कि "हे साधु महाराज! क्या कोई अन्य भी इस मार्ग से गया है?" साधु कहते हैं कि "अभी थोड़ी देर पहले आपके राज्य का एक सेवक यहाँ से गया है।" प्रधान जी उसी दिशा में चले जाते हैं। कुछ समय बाद राजा भी उसी स्थान पर आते हैं और अपना पदवेश उतारकर साधु महाराज को प्रणाम करते हुए, कहते हैं कि हे साधु महाराज! आपके ध्यान में विघ्न डालने के लिए क्षमा चाहता हूँ। हम मार्ग भटक गए हैं। क्या आपने मेरे किसी साथी को यहाँ से जाते हुए देखा है? साधु कहते हैं कि महाराज मैं तो अंधा हूँ। मैंने देखा तो नहीं, परंतु कह सकता हूँ कि थोड़ी देर पहले आपके सेवक और फिर आपके प्रधान इसी मार्ग से आगे गए हैं। राजा ने आश्चर्य से पूछा कि यदि आप देख नहीं सकते, तो फिर आपको कैसे पता लगा कि कौन सेवक है, कौन प्रधान और कौन राजा? साधु उत्तर देते हैं कि यह जानने के लिए तो वाणी का संस्कार ही पर्याप्त है।

17.16

मनः(फ्) प्रसादः(स्) सौम्यत्वं(म्), मौनमात्मविनिग्रहः|
भावसंशुद्धिरित्येतत्, तपो मानसमुच्यते||17.16||

मन की प्रसन्नता, सौम्य भाव, मननशीलता, मन का निग्रह (और) भावों की भली भाँति शुद्धि - इस तरह यह मन-सम्बन्धी तप कहा जाता है।

विवेचन: अनुकूलता में हर्षित न हो जाना और प्रतिकूलता में भी मन में उद्वेग न होना। अर्थात् प्रत्येक अवस्था में मन की प्रसन्नता बनाए रखना तप ही है। जैसे सोम यानि चन्द्रमा का दर्शन सुखदायी होता है। ऐसे ही जिसमें सौम्यता होती है, उसके दर्शनमात्र से सबका मन आनन्दित हो जाता है। गुरुदेव कहते हैं कि यदि किसी से आपका विरोध भी है, तो भी सौम्यता से प्रकट करना चाहिए। उनका एक उत्तम वाक्य है-

"उस दिन आप सफलता की सीधी चढ़ना आरंभ कर देंगे, जब आप शत्रु के साथ भी सौम्यता का व्यवहार करेंगे।"

भगवान श्रीराम का व्यवहार देखिए। जानकी जी का अपहरण करने वाले रावण का मरणोपरांत जब विभीषण ने अंतिम संस्कार करने के लिए मना कर दिया, तब श्रीराम कहते हैं-
"अगर तुम अपने भाई का संस्कार नहीं कर सकते, तो फिर तुम उन्हें मेरा भाई समझकर उनका संस्कार करो।"
भगवान आगे कहते हैं मौन। मौन का अर्थ यदि 'न बोलना' होता तो वह वाचिक तप के अंतर्गत आता, परंतु भगवान ने इसे मानसिक तप में लिया है, क्योंकि मुँह से कुछ न कहकर भी यदि हम संकेतों से, गुनगुनाहट से या लिखकर कुछ अभिव्यक्त कर देते हैं, तो फिर मौन कहाँ हुआ? वृत्तियाँ रुके बिना मन शांत नहीं होगा। अतः **मन की वृत्तियों को रोकना भी मानसिक तप है।** जो मन पर नियंत्रण कर सकेगा, वही दूसरों पर भी नियंत्रण कर सकेगा। यह बात भगवान क्षत्रिय अर्जुन को सिखाते हैं क्योंकि जिसे दूसरों पर राज करना होता है, लोक संग्रह करना होता है, उसे स्वयं पर भी नियंत्रण करना आवश्यक है। "यथा राजा तथा प्रजा।"

Think positively भाव संशुद्धि -

अपने अंतःकरण के विचारों को शुद्ध रखना भी तप है। यदि कोई दो लोग बात कर रहे हों, तो मन के विचार शुद्ध न होने पर ऐसे भाव आएगा कि ये मेरे बारे में कोई चुगली तो नहीं कर रहे होंगे? सकारात्मक विचार रखना भी मानसिक तप है। जहाँ आवश्यक नहीं हो, वहाँ प्रतिक्रिया नहीं देनी चाहिए।

पहले शारीरिक तप, फिर वाचिक तप और फिर मानसिक तप इस क्रम से बताते हुए, भगवान स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हैं। गुरुदेव कहते हैं- जिस दिन से मानसिक तप करना आ गया, उस दिन से ध्यान भी अच्छी प्रकार से लगने लगेगा। क्योंकि मन की वृत्तियाँ शांत होने लगती हैं, मन पर नियंत्रण होने लगता है और इसलिए मानसिक तप को श्रेष्ठ कहा गया है। मराठी में कहते हैं-

मन करा रे प्रसन्न । सर्व सिद्धीचें कारण ।
मोक्ष अथवा बंधन । सुख समाधान इच्छा ते ॥

यदि मन अवसाद की ओर जा रहा है तो उसे सकारात्मकता की ओर ले जाना, उसे शोक से दूर करके आनंद के साथ जोड़ना।

17.17

श्रद्धया परया तप्तं(न्), तपस्तत्त्रिविधं(न्) नरैः|
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः(स्), सात्त्विकं(म्) परिचक्षते||17.17||

परम श्रद्धा से युक्त फलेच्छा रहित मनुष्यों के द्वारा (जो) तीन प्रकार (शरीर, वाणी और मन) - का तप किया जाता है, उसको सात्त्विक कहते हैं।

विवेचन: भगवान कहते हैं कि पूर्वोक्त तीनों प्रकार के तपों को यदि बिना फल की इच्छा के, अत्यन्त अनुशासन के साथ, कर्त्तव्य भाव से, परम श्रद्धा से किया जाता है, तो वे सात्त्विक कहलाते हैं। व्रत-उपवास करने का शरीर और मन पर अत्यन्त उत्तम प्रभाव होता है। चातुर्मास में संयमित आहार, अधिक मास में व्रतोपासना, एकादशी का परायण, विष्णु सहस्रनाम का जप श्रद्धा भाव से किये जाने वाले सात्विक तप हैं। नए शोध से पता लगा है कि उपवास करने से कैंसर का रोग भी समाप्त होता है।

17.18

सत्कारमानपूजार्थं(न्), तपो दम्भेन चैव यत्|
क्रियते तदिह प्रोक्तं(म्), राजसं(ञ्) चलमध्रुवम्||17.18||

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये तथा दिखाने के भाव से किया जाता है, वह इस लोक में अनिश्चित (और) नाशवान फल देने वाला (तप) राजस कहा गया है।

विवेचन: मेरा सत्कार हो जाए, मेरी वाहवाही हो जाए इस विचार से, दिखावे और प्रसिद्धि के लिए, अस्थिर और क्षणिक फल के लिए देवताओं, गुरु, माता-पिता आदि का पूजन करना- यह सब राजसी तप हैं।

17.19

मूढग्राहेणात्मनो यत्, पीडया क्रियते तपः|
परस्योत्सादनार्थं(म्) वा, तत्तामसमुदाहृतम्||17.19||

जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से अपने को पीड़ा देकर अथवा दूसरों को कष्ट देने के लिये किया जाता है, वह (तप) तामस कहा गया है।

विवेचन- दूसरों के अनिष्ट हेतु तामस तप शरीर को कष्ट एक पैर पर खड़े रहे। इससे सृष्टि का क्या कल्याण होगा? व्यष्टि, समष्टि, सृष्टि, परमेष्टि ? किसी का कल्याण नहीं। शरीर को कुछ न कुछ कष्ट तो होता है। अनावश्यक घोर कष्ट देना अनुचित है।

अत्यन्त मूढ़तापूर्वक, दुराग्रह से कोई सिद्धान्त पकड़ लिया तो फिर उसे बदलने को तैयार ही न होना। कोई व्रत ले लिया, तो अपने को ही नहीं, दूसरों को भी पीड़ा देना। दूसरों के अनिष्ट का विचार करते हुए, जो तप किया जाता है, इस प्रकार अज्ञान से ग्रहण किया हुआ तप तामसिक तप है। यह निकृष्ट है। गिनीज बुक में नाम अंकित करवाने के लिए, लोग विभिन्न प्रकार की चेष्टाएं करते हैं। वे यह भी विचार नहीं करते कि इस क्रिया से मेरा स्वयं का, परिवार का, समाज का अथवा सृष्टि का क्या उत्थान होगा? अपने आत्मकल्याण का विचार भी उसमें नहीं होता। गुरुदेव कहते हैं कि '**शरीर को पीड़ा देने से भगवान मिलते हैं' - यह गलत सिद्धान्त है।** यह सत्य है कि शरीर को कष्ट न देने से उसमें निखार नहीं आता, उसके अंदर की अशुद्धियाँ दूर नहीं होतीं, परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता कहती है-

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

अर्थात् जीवन में नपा तुला संतुलन आवश्यक है।
आहार केवल वह ही नहीं है, जो हम अपने मुख के द्वारा ग्रहण करते हैं। हम विभिन्न इंद्रियों से विभिन्न प्रकार का आहार ग्रहण करते हैं। **आंखों का आहार है रूप, कानों का आहार है शब्द, नाक का आहार है गन्ध, त्वचा का आहार है स्पर्श और जिह्वा का आहार है रस**। यज्ञ एक सामूहिक क्रिया है, इसमें समूह या संगठन अपेक्षित है। यह सृष्टि परस्परावलंबी है, अतः एक दूसरे के सहयोग से की जाने वाली क्रिया यज्ञ है। परन्तु तप और दान हम अकेले कर सकते हैं।

17.20

दातव्यमिति यद्दानं(न्), दीयतेऽनुपकारिणे|
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं(म्) सात्त्विकं(म्) स्मृतम्||17.20||

दान देना कर्तव्य है - ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर अनुपकारी को अर्थात् निष्काम भाव से दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है।

विवेचन: यज्ञ सामूहिक क्रिया है, सामूहिक सङ्गठन से होता है।

तप अकेले होता है। दान भी अकेले कर सकते हैं। गुरूदेव कहते हैं-

Spritual laundry
दानंसमविभागं
दान से मलिनता घटती है। धन की मलिनता भी घटती है।

Exaust fan दूषित वायु को बाहर करता है। मैंने कुछ न कुछ पाया है, इसलिए देना मेरा कर्तव्य है। इस भाव से देश काल और पात्रता के अनुसार योग्य स्थान में (जहां आवश्यकता हो, वहाँ), योग्य समय पर (जब आवश्यक हो, तब), योग्य पात्र को (जिसे आवश्यकता हो, उसे) योग्य वस्तु (जिस वस्तु की आवश्यकता हो, वह), प्रत्युपकार की कामना न रखकर दान देना, यह सात्त्विक दान है। जैसे किसी रोगी को दवा की आवश्यकता हो, किसी भिखारी को धन की आवश्यकता हो, किसी गरीब को वस्त्र की आवश्यकता हो, किसी अनपढ़ को शिक्षा की आवश्यकता हो, तो उसे कर्त्तव्य भाव से, बदले में कुछ चाहे बिना देना। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं:

स्वधर्म नीट पाळून, प्राप्त होईल जे धन।
त्याचेच करावे दान, सन्मानाने॥

स्वधर्म का आचरण करते हुए जो भी प्राप्त होता है, उसी में से कुछ न कुछ कर्त्तव्य रूप से दान देना और वह भी धन्यता की भावना से, मान एवं सत्कारपूर्वक देना।
जीवन के दो काल कहे गए हैं- एक आदान काल और दूसरा प्रदान काल। आदान काल अर्थात् जिस समय कुछ न कुछ प्राप्त करना हमारी नियति होती है। जैसे बाल्यावस्था में माता-पिता से पालन-पोषण, शिक्षा, संस्कार आदि तथा समाज से कुछ न कुछ पाना। परंतु प्रदान काल आता है, तो वह हमारा सौभाग्य होता है। हम आदान काल में प्राप्त किया हुआ कुछ न कुछ किसी न किसी रूप में लौटा सकते हैं। केवल धन ही नहीं तो अन्य किसी मार्ग से भी चाहे वह ज्ञान दान ही हो, समाज को लौटाना- यह सात्विक दान है।
गोस्वामी तुलसीदास जी एक सेठ से कहते हैं-

"ऐसी देनी देन जु, कित सीखे हो सेन।
ज्यों ज्यों कर ऊँचौ करौ, त्यों त्यों नीचे नैन।"

अर्थात् तुम ऐसा दान देना कहाँ से सीखे हो? जैसे-जैसे तुम्हारे हाथ ऊपर उठते हैं वैसे-वैसे तुम्हारे नैन नीचे क्यूँ झुक जाते हैं?
सेठ जी उत्तर देते हैं:

देनहार कोई और है, भेजत है दिन रैन।
लोग भरम हम पर करैं, तासो नीचे नैन॥

अर्थात् हम कहाँ किसी को कुछ देते हैं। देने वाला तो दूसरा ही है, जो दिन-रात भेजता रहता है। लोगों को व्यर्थ ही मेरे दानी होने का भ्रम हो रहा है। मेरे नेत्र इसलिए नीचे की ओर झुक जाते हैं।

17.21

यत्तु प्रत्युपकारार्थं(म्), फलमुद्दिश्य वा पुनः|
दीयते च परिक्लिष्टं(न्), तद्दानं(म्) राजसं(म्) स्मृतम्||17.21||

किन्तु जो (दान) क्लेशपूर्वक और प्रत्युपकार के लिये अथवा फल-प्राप्ति का उद्देश्य बनाकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा जाता है।

विवेचन- मनुष्य विविधता में ढला हुआ है, जो प्रकृति के तीन गुणों (सत्त्व, रज और तम) के मिश्रण के कारण है। कोई दान माँगने आए तो अपनी सम्पन्नता का विचार करके, देने की इच्छा न होते हुए भी, अत्यन्त कष्टपूर्वक, प्रत्युपकार और प्रसिद्धि की इच्छा से फल पर दृष्टि रखकर दिया जाने वाला दान, बीच की श्रेणी का राजसी दान है। यह उत्कृष्ट पद्धति नहीं है।
तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है:

श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् ।
ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ||1-11||

अर्थात श्रद्धापूर्वक देना। अश्रद्धा से नहीं देना। जो श्रेयस्कर हो वही देना। छोटा होकर देना। नम्रतापूर्वक लीन हो कर देना। पात्र की स्थिति को जानकर देना।
ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि किसी को देना तो उसका सम्मान करके देना, चाहे वह आपके घर की कोई सेविका ही क्यों न हो। उसे भी कुंकुम, तिलक लगाकर अपने पास बैठाकर बढ़िया साड़ी देना।

17.22

अदेशकाले यद्दानम्, अपात्रेभ्यश्च दीयते|
असत्कृतमवज्ञातं(न्), तत्तामसमुदाहृतम्||17.22||

जो दान बिना सत्कार के तथा अवज्ञापूर्वक अयोग्य देश और काल में कुपात्र को दिया जाता है, वह (दान) तामस कहा गया है।

विवेचन- सत्कार न करते हुए देना, दूसरे को हीन समझ कर देना, मेरे पास बहुत ज्यादा है, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ेगा- ऐसा सोच कर देना, जिसका उपयोग नहीं हो सकता उसे दे देना, फ्रिज में रखा हुआ बचा हुआ भोजन दे देना, यह कोई दान नहीं है। जैसे किसी नाचनेवाली के नाच को देख कर उस पर पैसे फेंके जाते हैं, यह देना तामस दान है।
अपात्र दान का उपयोग कैसे करेगा? वह शराब पीने, देशद्रोही गतिविधियों में या बम बनाने के लिए भी क्र सकते हैं।

किसी का अपमान करते हुए, अयोग्य स्थान में, अनुचित समय पर और अयोग्य पात्र को दिया जाने वाला दान भी तामस दान है। यह अत्यन्त निचले स्तर का दान है।

भगवान हमें समापन की ओर लाकर सुन्दर मन्त्र देते हैं -
हमने कितनी भी सावधानी से जीवन जिया हो कोई न कोई भूल रह जाती है। उसे शुद्ध कैसे करना? जीवन विकारों से परिपूर्ण है, सात्विकता से जीते हुए, भी अशुद्धि आ जाती है।

17.23

ॐ तत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणस्त्रिविधः(स्) स्मृतः|
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च, यज्ञाश्च विहिताः(फ्) पुरा||17.23||

ऊँ, तत् और सत् - इन तीन प्रकार के नामों से (जिस) परमात्मा का निर्देश (संकेत) किया गया है, उसी परमात्मा से सृष्टि के आदि में वेदों तथा ब्राह्मणों और यज्ञों की रचना हुई है।

विवेचन- अर्जुन का प्रश्न यही है कि हम जीवन में कितनी भी सावधानी रखें, परंतु हमसे कोई न कोई भूल हो ही जाती है। उसे शुद्ध कैसे करें? तो भगवान एक मंत्र देते हैं। निर्गुण-निराकार परमात्मा की अभिव्यक्ति करने के लिए, भगवान के तीन वैदिक नाम हैं-

ॐ - प्रणवाक्षर
तत् - वह जिसे अँगुली से निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता, जो अनिर्दिष्ट है।
सत्- जो सनातन सत्य स्वरूप है
परमात्मा के द्वारा निर्मित और उनको जानने वाले ब्राह्मण, यज्ञ और वेद हैं। उन्हीं वेदों में वर्णित भगवान के ये तीन मङ्गलमय नाम हैं। हमारे किसी भी कार्य की अपूर्णता भगवान के इन नामों से पूर्णता में परिणित हो जाती है।

17.24

तस्मादोमित्युदाहृत्य, यज्ञदानतपः(ख्) क्रियाः|
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः(स्), सततं(म्) ब्रह्मवादिनाम्||17.24||

इसलिये वैदिक सिद्धान्तों को मानने वाले पुरुषों की शास्त्रविधि से नियत यज्ञ, दान और तप रूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्मा के नाम का उच्चारण करके (ही) आरम्भ होती हैं।

विवेचन- जैसे प्रत्येक देश का कोई संविधान होता है, ऐसे ही **वेद सृष्टि का संविधान हैं**, क्योंकि यह सृष्टि भी नियामकता से चलती है। सृष्टि को चलाने वाली शक्ति ब्रह्म है। ब्रह्म को मानने वाले, उनके अनुसन्धान में जीवन जीने वाले, वेद मंत्रों का उच्चारण करने वाले, शास्त्र विधि से यज्ञ, दान और तप करने वाले श्रेष्ठ पुरुष अपने प्रत्येक **शुभ कार्य को ॐ का उच्चारण करके आरम्भ करते हैं। वेदों के मंत्र भी ॐ से आरम्भ होते हैं**। महर्षि पतंजलि योग दर्शन में कहते हैं- **तस्य वाचक: प्रणवः।**

भगवान का पवित्र नाम प्रणव अर्थात् ओंकार है। इसलिए ॐ कहकर अपने प्रत्येक कर्म को आरम्भ करने और तत् शब्द से उसे **भगवान को अर्पण करने से, वह कर्म ब्रह्मरूप हो जाता है** और तब वह सत् कहलाता है। इससे "मैंने किया" का अहंकार भी धुल जाता है और वह कर्म पवित्र हो जाता है।
ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं - **ओमकारा ने आरम्भले**

17.25

तदित्यनभिसन्धाय, फलं(म्) यज्ञतपः(ख्) क्रियाः|
दानक्रियाश्च विविधाः(ख्), क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः||17.25||

तत्' नाम से कहे जाने वाले परमात्मा के लिये ही सब कुछ है - ऐसा मान कर मुक्ति चाहने वाले मनुष्यों द्वारा फल की इच्छा से रहित होकर अनेक प्रकार की यज्ञ और तप रूप क्रियाएँ तथा दान रूप क्रियाएँ की जाती हैं।

विवेचन- फल की इच्छा न रखते हुए, यज्ञ, दान और तप- इन तीनों क्रियाओं को परमात्मा को अर्पण करते हुए, मोक्ष प्राप्ति की अर्थात् देह में रहते हुए ही अपने किए हुए कर्मों के परिणामों के भय से और दु:खों से छूटने की इच्छा रखने वाले, जीवन को आनन्दमय बनाने की इच्छा वाले ॐ, तत् , सत् शब्दों का प्रयोग करते हुए परमात्मा को पुकारते हैं।

मोक्ष का अभिप्राय देह छोड़ना नहीं, दुःखों कष्टों से मुक्ति है।
परिणामों के भय से मुक्ति, अर्जुन को युद्ध परिणाम का भय है।
सत् से संस्कार है।

17.26

सद्भावे साधुभावे च, सदित्येतत्प्रयुज्यते|
प्रशस्ते कर्मणि तथा, सच्छब्दः(फ्) पार्थ युज्यते||17.26||

हे पार्थ ! सत्- ऐसा यह परमात्मा का नाम सत्ता मात्र में और श्रेष्ठ भाव में प्रयोग किया जाता है तथा प्रशंसनीय कर्म के साथ 'सत्' शब्द जोड़ा जाता है।

विवेचन- मन में साधुता का श्रेष्ठ भाव रखते हुए, प्रत्येक क्रिया के लिए सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। सबके लिए कल्याणकारी अच्छे कर्मों के लिए भी सत् शब्द का प्रयोग होता है। गीता का एक मूल मंत्र है- **सर्वभूतहिते रताः**। बम विस्फोट तो सर्वभूतहितेरता नहीं है।
जो यज्ञकर्म किया है, वह सब भी परमात्मा को ही अर्पण कर देना।

जो कुछ कीया सो तुम किया, मैं कुछ कीया नाहीं |

जो तुम कहो कि मैं किया, तुम ही थे मुझ माहीं ||

अर्थात् हे प्रभु! मुझे कर्म करने की सारी क्षमताएं आपने ही दी हैं।

संत तुकाराम जी मराठी में कहते हैं:

आपुलिया बळे नाही मी बोलत । सखा कृपावंत वाचा त्याची ॥
साळुंकी मंजुळ बोलतसे वाणी । शिकविता धनी वेगळाची ॥

अर्थात् **जिस वाणी से शब्दों का उच्चारण होता है, जिससे हम मातृभाषा सीखते हैं, यह वाणी भी उस परमात्मा की दी हुई है।** कोयल बहुत सुन्दर गाती है, परंतु वह अपने बल से नहीं गाती। कोई है जो उससे सुन्दर गवा लेता है।

संत ज्ञानेश्वर ने सोलहवें वर्ष की आयु में नौ हजार ओवियों की ज्ञानेश्वरी अपने गुरु के चरणों में बैठकर उनकी आभा से प्रस्फुटित की। बाईसवें वर्ष में उन्होंने संजीवन समाधि ले ली। और उसमें भी वे कहते हैं:

"किंबहुना तुमचें केलें, धर्मकीर्तन हें सिद्धी,
नेलें येथ माझें जी उरलें, पाईकपण ॥"

अर्थात् हे गुरुदेव! आपकी दी हुई सिद्धि से यह धर्मकीर्तन सिद्ध हो सका। मैं तो केवल आपके चरणों का दास हूं।
हम कहीं न कहीं से ज्ञान अर्जन करते हैं, किसी न किसी गुरु से ज्ञान प्राप्त करते हैं, और उसी को आगे साझा कर देते हैं। भगवान कहते हैं कि यदि ऐसी भावना रहे तो वह ज्ञान सत् हो जाता है।

17.27

यज्ञे तपसि दाने च, स्थितिः(स्) सदिति चोच्यते|
कर्म चैव तदर्थीयं(म्), सदित्येवाभिधीयते||17.27||

यज्ञ तथा तप और दान रूप क्रिया में (जो) स्थिति (निष्ठा) है, (वह) भी 'सत्' - ऐसे कही जाती है और उस परमात्मा के निमित्त किया जाने वाला कर्म भी 'सत्' - ऐसा ही कहा जाता है।

विवेचन- यज्ञ, तप और दान यदि सृष्टिकर्त्ता परमात्मा के लिए किए जाएं तो वे सभी कर्म सत् हो जाते हैं। अपने कर्म उस परमात्मा को अर्पण कर देने से यदि उनमें अशुद्धियाँ और न्यूनताएं भी हों, तो अनन्त और पूर्ण परमात्मा उन अपूर्ण कर्मों को स्वीकार करके पूर्ण, शुद्ध और श्रेष्ठ बना देते हैं।

17.28

अश्रद्धया हुतं(न्) दत्तं(न्), तपस्तप्तं(ङ्) कृतं(ञ्) च यत्|
असदित्युच्यते पार्थ, न च तत्प्रेत्य नो इह||17.28||

हे पार्थ ! अश्रद्धा से किया हुआ हवन, दिया हुआ दान (और) तपा हुआ तप तथा (और भी) जो कुछ किया जाय, (वह सब) 'असत्' - ऐसा कहा जाता है। उसका (फल) न तो यहाँ होता है और न मरने के बाद ही होता है अर्थात् उसका कहीं भी सत् फल नहीं होता।

विवेचन: विनोबा भावे कहते हैं, वही कर्म का अनन्त गुना फल प्राप्त करता है, जो अपने कर्म को अनन्त के साथ एकीकार कर देता है। परमात्मा में श्रद्धा-विश्वास न रखते हुए अर्पण भी नहीं हो पाता, अतः ऐसा यज्ञ, दान और तप असत् हो जाता है। वह सृष्टि के हितार्थ नहीं होगा इसलिए वह न तो इस लोक में लाभकारी होगा और न ही शरीर छोड़ने के बाद दूसरे लोक में हितकारी होगा। इसलिए **प्रत्येक कर्म भगवान के लिए करना और ॐ तत् सत् के मंत्र के उच्चारण और भाव से करना चाहिए**। अनन्य भाव से परमात्मा में श्रद्धा रखकर, अपनी श्रद्धा को विकसित करते हुए, अपने जीवन का उन्नयन करने के लिए,

मैं अपने व्यक्तित्व का विकास करता जाऊँ - ऐसा मनोभाव रखते हुए कर्म करना चाहिए।

इसके साथ ही आज का ज्ञानमय सत्र समाप्त हुआ इसके पश्चात् प्रश्नोत्तर हुए।

<u>प्रश्नोत्तर सत्र:</u>

प्रश्नकर्त्ता: प्रजु सारड़ा दीदी

प्रश्न: जब व्रत उपवास करते हैं तब सामान्य दिनों से ज्यादा भूख लगती है, ऐसा क्यों?

उत्तर: ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि हम बारम्बार मन से चिन्तन करते रहते हैं कि हमने आज कुछ खाया नहीं। भोजन का बारम्बार चिन्तन करने से भूख ज्यादा लगती है। उपवास के दिन खाली न बैठकर मन को अच्छे साहित्य के अध्ययन में, विद्यार्थी हैं तो पढ़ाई में, घर की स्वच्छता के कार्य में, भगवान के पूजन-अर्चन में संलग्न करना। मन को कड़ाई से नियंत्रित करते हुए कहना कि आज तुम्हें कुछ नहीं मिलने वाला। इसे ही तो भगवान ने तप कहा है अर्थात् यह आसानी से नहीं होने वाला।

प्रश्नकर्त्ता: सत्यपाल सिंह भैया

प्रश्न: मैंने अपने जीवन में अनेक लोगों की आर्थिक सहायता की परंतु मुझे आवश्यकता पड़ने पर, उन्होंने मेरा सहयोग नहीं किया और मुझे मेरा धन भी नहीं लौटाया। ऐसा क्यों?

उत्तर: संसार में सब प्रकार के लोग होते हैं। जिनकी आपने मदद की, वे तामसिक वृत्ति के रहे होंगे। वे आपका उपकार भी नहीं मानेंगे। आपने तो कर्त्तव्य के भाव से दिया, परन्तु उन्होंने नहीं लौटाया और आपके मन में प्रत्युपकार की भावना भी नहीं थी तो समझ लीजिए कि यह कर्म उनके खाते में जमा हो गया। आप किसी मंदिर में जाकर, हाथ में जल लेकर, उसे छोड़ते हुए कहें कि भगवान यह धन मैंने उनको नहीं दिया, आपको दिया है। परमात्मा को पुकारना ही अच्छा है, वह कहीं न कहीं से लौटकर आएगा। हमसे ऐसा व्यवहार न हो, हम ऐसी सावधानी रख सकते हैं, परन्तु दूसरे ऐसा व्यवहार न करें, यह हमारे हाथ में नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता: नंदिनी दीदी

प्रश्न: अधिक मास का क्या महत्त्व है?

उत्तर: हमारे ऋषियों ने ऐसा कहा कि इस पुरुषोत्तम मास में हम जितना भी पुण्य का कार्य करेंगे, वह अधिक यशस्वी होगा। इसलिए इसे अधिक मास भी कहते हैं। पुरुषोत्तम मास में परमात्मा की आराधना अधिक करनी चाहिए।

प्रश्नकर्त्ता: नंदिनी दीदी

प्रश्न: मैं उपवास करना चाहती हूं परंतु मधुमेह के कारण नहीं कर पाती। क्या मुझे उपवास करना चाहिए?

उत्तर: मधुमेह की स्थिति में पहले ही अन्न ग्रहण कम होता है। मिर्च-मसाले, तला-भुना कम खाते हैं, अतः अलग से उपवास करने की बजाय भगवान के निकट स्थित होने रूपी उपवास करें।

प्रश्नकर्त्ता: मीना पुरोहित दीदी

प्रश्न: ॐ तत् सत् की पुनः व्याख्या करें।

उत्तर: ॐ में अ अर्थात् ब्रह्मा, उ अर्थात् विष्णु और म अर्थात् महेश रूपी साकार और चन्द्रबिन्दु रूपी निराकार समाहित हैं। चार

अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय भी ॐ में अंतर्भूत हैं। तत् यानि वह और सत् यानि जो सत्य है, जो अनन्त है, जो अविनाशी है, जो समय, स्थान, व्यक्ति में भी अपरिवर्तनीय है, वह परमात्मा है।

प्रश्नकर्त्ता: शहूली गायकवाड़ दीदी

प्रश्न: हमने सुना है कि कोई भी व्यक्ति सात दिन से अधिक भोजन किए बिना नहीं रह सकता, तो फिर प्राचीन काल में लोग अनेकों वर्षों तक भूखे-प्यासे रहकर तपस्या कैसे कर लेते थे?

उत्तर: अन्न से अतिरिक्त भी ऊर्जा के विभिन्न स्रोत होते हैं। हमारे शरीर को केवल अन्न से ही नहीं, अन्य पदार्थों से भी ऊर्जा प्राप्त हो जाती है। ऐसे ही प्राचीन काल में लोगों को विभिन्न स्रोतों की जानकारी होती थी, जिनके साथ अपने को जोड़कर वे ऊर्जा प्राप्त कर लेते थे। जैसे लक्ष्मण जी चौदह वर्ष तक भूखे रहे, तभी वे इंद्रजीत का वध कर सके।

There are energy sources other than food
अन्न के अलावा व्यायाम भी ऊर्जा का स्रोत्र है।

प्रश्नकर्त्ता: शशि अग्रवाल दीदी

प्रश्न: मन के निर्विकल्प होने का क्या अर्थ है?

उत्तर: मन में कुछ न कुछ संकल्प और विकल्प निरन्तर उठते रहते हैं। बुद्धि उन पर निर्णय लेती है। एक संकल्प उठता है तो उसके साथ अनेक विकल्प उठते हैं। फिर बुद्धि एक निर्णय लेती है और हम तदनुरूप कर्म करते हैं। उस कर्म का संस्कार चित्त पर अंकित हो जाता है और फिर हम अहंकारपूर्वक कहते हैं कि यह कर्म हमने किया। यह अंतःकरण चतुष्टय है। इस प्रक्रिया में से यदि मन में संकल्प-विकल्प न उठें तो परमात्मा का प्रकाश हम तक पहुँच पाता है। जैसे किसी तालाब में हमारी अँगूठी गिर जाए और उसमें कीचड़ हो तो वह आसानी से प्राप्त नहीं होगी। यदि कीचड़ न भी हो परंतु उस जल में लहरें उठ रही हों, तो भी वह दिखाई नहीं देगी। यदि उस जल में कंकड़ पत्थर फेंकते रहें तो भी जल की हलचल की वजह से उसके तल पर क्या है, यह स्पष्टता से नहीं दिख पाएगा। उसके लिए जल का स्वच्छ और स्थिर होना आवश्यक है। उसी प्रकार अपने मन में परमात्मा का प्रकाश देखने के लिए मन का निर्विकल्प और स्थिर होना आवश्यक है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(म्) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः।।

इस प्रकार ॐ तत् सत् - इन भगवन्नामों के उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में 'श्रद्धात्रयविभागयोग' नामक सत्रहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!

हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !

संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!

आइये हम सब गीता परिवार के इस ध्येय से जुड़ जायें, और अपने इष्ट-मित्र -परिचितों को गीता कक्षा का उपहार दें।

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||

||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||